वैशेषिकसम्मत ज्ञानमीमांसा

डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा

ज्ञान (प्रमा) क्या है? ज्ञान और अज्ञान (अप्रमा) में क्या भेद है? ज्ञान के साधन अथवा निश्चायक घटक कौन है? इन और इसी प्रकार के कई अन्य प्रश्नों के उत्तर में ही ज्ञान के स्वरूप का कुछ परिचय प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञान अपने आप में वस्तुत: एक निरपेक्ष सत्य है, किन्तु जब उसको परिभाषित करने का प्रयास किया जाता है तो वह विश्लेषक की अपनी सीमाओं के कारण ग्राह्यवस्था में सापेक्ष सत्य की परिधि में आ जाता है। फिर भी भारतीय मान्यताओं के अनुसार कणाद आदि ग षि सत्य के साक्षात् द्रष्टा हैं। अत: उन्होंने जो कहा, वह प्राय: ज्ञान का निरपेक्ष विश्लेषण ही माना जाता है।

महर्षि कणाद ने ज्ञान की कोई सीधी परिभाषा नहीं बताई। न्यायसूत्र में अक्षपाद गौतम ने ज्ञान को बुद्धि और उपलब्धि का पर्यायवाची माना। प्रशस्तपाद ने ज्ञान के इन पर्यायों में 'प्रत्यय' शब्द को भी जोड़ा। ऐसा प्रतीत होता है कि गौतम, कणाद और प्रशस्तपाद के समय तक ज्ञान के स्थान पर बुद्धि शब्द का प्रयोग होता था। शिवादित्य ने भी आत्माश्रय प्रकाश को बुद्धि कहा है। अत: न्याय-वैशेष्शिक में बुद्धि का जो विश्लेषण किया गया है, उसी को ज्ञान का विश्लेषण मान लेना अनुपयुक्त नहीं होगा। ज्ञान को ही शब्दान्तर से प्रमा औश्र विद्या भी कहा जाता है। मीमांसकों के अनुसार ज्ञान आत्मा का कर्म है किन्तु न्याय-वैशेषिक के अनुसार ज्ञान आत्मा का गुण है। अद्वैत वेदान्त में ज्ञान या चैतन्य को आत्मा का गुण नहीं, अपितु स्वरूप या स्वभाव माना गया है, किन्तु न्यायवैशेषिकों के अनुसार ज्ञान आत्मा का स्वभाव नहीं अपितु आगन्तुक गुण है। सांख्य में बुद्धि और ज्ञान को अलग-अलग मानते हुए यह कहा गया है कि बुद्धि (महत्त्व) प्रकृति का कार्य है और ज्ञान उसका साधन। कुछ पाश्चायत्त्य मनीषियों ने ज्ञान को मन और विषय के बीच का एक सम्बन्ध बताया है, पर जैसा कि पहले भी कहा गया, वैशेषिक ज्ञान को आत्मा का गुण मानते हैं, सम्बन्ध नहीं। विश्वनाथ पञ्चानन ने बुद्धि के दो भेद अनुभूति और स्मृति मान कर अनुभूति के अन्तर्गत प्रमाणों का निरूपण किया। अन्नंभट्ट ने वैशेषिको के चिन्तन का सार सा प्रस्तुत करते हुए कहा कि-समस्त व्यवहार के हेतुभूत गुण को बुद्धि या ज्ञान कहते है। बुद्धि या ज्ञान या प्रमा का निश्चय प्रमाणों के द्वारा सम्पन्न होता है।

प्रमाण का स्वरूप

व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्रमाण शब्द प्र उपसर्गपूर्वक माङ धातु से करण में ल्युट् प्रत्यय जोड़ने निष्पन्न

होता है, जिसका अर्थ है – प्रमा का कारण। प्रमाण की परिभाषा विभिन्न दर्शनों के आचार्यों ने विभिन्न रूप से की है। सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक बौद्धों ने यह कहा कि प्रमाण वह वहै, जिससे सम्यक् ज्ञान हो। नागार्जुन प्रमाण की सत्ता नहीं मानते। दिङनाग की परम्परा में धर्मकीर्ति ने यह बताया कि विवक्षित अर्थ को बताने वाला सम्यक् तथा अविसंवादि ज्ञान प्रमाण है। जैन परम्परा में अकलंक के अनुसार पूर्व अनधिगत, व्यवसायात्मक सम्यक् ज्ञान तथा हेमचन्द्र के अनुसार पूर्वाधिगत सम्यक् ज्ञान भी प्रमाण है। सांख्य सूत्रकार यह मानते हैं कि असन्निकृष्ट अर्थ के ज्ञान को और प्राभाकर अनुभूति को प्रमाण मानते हैं। वेदान्त में अगृहीतग्राहित्व को प्रमाण का मुख्य आधार माना गया है।

न्यायपरम्परा में प्रचलित मन्तव्यों का समाहार करके प्रमाण की व्यापक परिभाषा देते हुए जयन्तभट्ट यह कहते हैं कि – ''वह सामग्री-साकल्य ही प्रमाण है, जो अव्यभिचारि तथा असंदिग्ध ज्ञान का जनक हो और जिसमें ज्ञान के बोध और अबोधस्वरूप समग्र कारणों का समावेश हो''। आचार्य कणाद ने प्रमाण के लिए दोषराहित्य आवश्यक बताया। वगभाचार्य ने भी सत्य ज्ञान को विद्या कहा है। श्रीधर ने अध्यवसाय शब्द को भी प्रमाण की परिभाषा में जोड़ा। शंकर मिश्र ने उपस्कार में यह कहा कि प्रमाण वह है जो ज्ञान का उत्पादक हो।

प्रमाण के भेद

वैशेषिक दर्शन में प्रमाण के दो ही भेद माने गये हैं – प्रत्यक्ष और अनुमान। न्यायपरम्परा में प्रवर्तित अन्य दो प्रमाणों – उपमान और शब्द- का वैशेषिकों ने अनुमान में ही अन्तर्भाव किया है। न्यायपरम्परा में भी भासर्वज्ञ (१०वीं शती) ने उपमान को पृथक् प्रमाण नहीं माना और न्याय के शेष सब पदार्थो का विवेचन भी शेष तीन प्रमाणों के अन्तर्गत कर दिया ।

प्रत्यक्ष का स्वरूप और भेद

इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान की प्रत्यक्षता का संकेत वैशेषिक सूत्र में भी उपलब्ध है। प्रशस्तपाद के कथनों का भी यह सार है कि प्रत्यक्ष शब्द ज्ञान सामान्य का वाचक है। प्रत्यक्ष के दो भेदों की ओर संकेत करते हुए प्रशस्तपाद यह कहते हैं कि प्रत्यक्ष में विषय का आलोचनमात्र होता है। उन्होंने एक वैकल्पिक परिभाषा यह भी दी है कि आत्मा, मन, इन्द्रिय और वस्तुओं के सन्निकर्ष से उत्पन्न निर्दोष तथा शब्द द्वारा अनुगाारित अव्यपदेश्य जो ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष कहलाता है। ''यह गो है''-ऐसा सुनने पर भी ज्ञान होता है, वह शब्द की अतिशयता है, चक्षु की नहीं। चक्षु उसमें गौण रूप से सहायक है। प्रशस्तवाद के इन कथनों में प्रत्यक्ष के सविकल्पक और निर्विकल्पक इन दोनों भेदों के सामान्य और विशिष्ट लक्षणों का भी समावेश हो गया है। श्रीधर भी प्रत्यक्ष की ''अक्षमक्षं प्रतीत्य या बुद्धिरुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षं प्रमाणम्''- ऐसी परिभाषा करते हैं। अक्षशब्द में यहाँ ध्राण, रसना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र और मन

इनका समाहार होता है, कर्मेन्द्रियों का नहीं। प्रत्यक्ष ज्ञान केवल द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य का ही होता है, विशेष और समवाय का नहीं। महर्षि कणाद और महर्षि गौतम दानों ने ही इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण माना, किन्तु उन्होंने इसके निर्विकल्पक और सविकल्पक इन दो भेदों का उगेख नहीं किया है। भाष्यकार प्रशस्तपाद ने दोनों का सांकेतिक उगेख किया और उनकी परिभाषाएँ भी बताई।

यह ज्ञातव्य है कि न्यायसूत्रकार द्वारा प्रयुक्त 'अव्यपदेश्यम्' और 'व्यवसायात्मकम्' इन दो लक्षण घटाकों के आधार पर वाचस्पति मिश्र ने प्रत्यक्ष के सविकल्पक और निर्विकल्पक इन दो भेदों का स्पष्ट प्रवर्तन किया। बौद्धों के विचार में निर्विकल्पक ही प्रत्यक्ष है, जबकि वैयाकरण सविकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानते है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार निर्विकल्पक शुद्ध सत् का ग्रहण करता है और सविकल्पक गुण कर्म आदि से युक्त सत् का। धर्मराजाध्वरीन्द्र का यह कथन है कि निर्विकल्पक संसर्गानवगाही ज्ञान है और सविकल्पक वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान न्यायय वैशेषिक यह कहते है कि प्रत्यक्ष के इन दोनों भेदों में आत्मा तो एक ही है, किन्तु अवस्थाभेद के कारण नामभेद है। निर्विकल्पक प्रथम सोपान है और सविकल्पक द्वितीय।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष

प्रशस्तपाद के अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में पदार्थ के सामान्य और विशिष्ट गुणों का साक्षात्कार तो होता है, किन्तु दोनों का भेद मालूम नहीं होता, इसमें पदार्थ के स्वरूपमात्र का आचोलन होता है। श्रीधर के कथनानुसार भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष वह है जो स्वरूपमात्र के आलोचन से युक्त हो।

वैयाकरण निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को प्रामाणिक नहीं मानते, क्योंकि उनके मतानुसार वह व्यावहारिक क्रियाकलाप के योग्य नहीं होता। किसी भी पदार्थ का बोध उसके नाम के साथ ही होता है। बिना भाषा के कोई विचार नहीं होता। किन्तु नैयायिकों और वैशेषिकों ने वैयाकरणों के इस मत का खण्डन करते हुए यह बताया कि गूंगे को भी पदार्थों का बोध होता है। यदि रूप और नाम का तादात्म्य होता तो अन्धे को श्रोत्र से रूप का ग्रहण हो जाता, पर ऐसा नहीं होता।

सविकल्पक प्रत्यक्ष

सविकल्पक प्रत्यक्ष में सभी धर्म स्पष्ट रूप से भासित होते हैं। जैसे गो का निर्विकल्पक ज्ञान होने के अनन्तर उसके वर्ण आदि का जो ज्ञान होता है, वह सविकल्पक कहलाता है।

बौद्ध सविकल्पक को ज्ञान नहीं मानते, क्योंकि उनके मत में विकल्प कल्पनाजन्य और भ्रान्त होते है। श्रीधर बौद्धों के मत खण्डन करते हुए यह कहते हैं कि कम्बुग्रीवादि रूप घ्ज्ञट की विलक्षण प्रतीति, पटादि पदार्थों की प्रतीति से विलक्षण होती है, अतः सविकल्पक प्रत्यक्ष प्रामाणिक है।

शिवादित्य आदि उत्तरवर्ती आचार्य भी प्रशस्तपाद के मत का अनुवर्त्तन करते हुए यह मानते हैं

कि सविकल्पक से पहले निर्विकल्पक की और निर्विकल्पक के अनन्तर सविकल्पक की सत्ता मानना युक्तिसंगत है।

अनुमान का स्वरूप और भेद

''लीनम् परोक्षम् अर्थम् गमयति इति लिंगम्'' व्युत्पत्ति की दृष्टि से लिंग का अर्थ है परोक्ष ज्ञान। वैशेषिक सूत्रकार कणाद यह कहते हैं कि कार्य, कारण, संयोगी, विरोधी, एवं समवायी आदि के आधार पर, सम्बद्ध लिंगी का जो ज्ञान होता है वह लैङगिक अर्थात् अनुमान है। कणाद ने अनुमान के लक्षण में ही इस बात का निर्देश किया कि अनुमान (1) कारण, (2) कार्य, (3) संयोग, (4) विरोध और (5) समवाय इन पाँच प्रकार के हेतुओं (अपदेशों में से, किसी एक से भी किया जा सकता है।

वैशेषिकों के मन्तव्य का सार यह है कि अनुमिति का कारण लिंगज्ञान है। किन्तु इस संदर्भ मे अन्नंभट्ट का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है कि लिंगज्ञान को नहीं, अपि तु लिंगपरामर्श को अनुमिति का कारण माना जाना चाहिए।

कणाद ने अनुमान के भेदों का विवेचन नहीं किया, किन्तु प्रशस्तपाद ने यह बताया कि अनुमान के (१) दृष्ट और (२) सामान्यतोदृष्ट ये दो भेद हैं। उत्तरपक्षी वैशेषिकों ने प्राय: प्रशस्तपाद का अनुगमन किया।

दृष्ट अनुमान

ज्ञात (प्रसिद्ध) और साध्य में जाति का अत्यन्त भेद न होने पर अर्थात् हेतु के साथ पहले से ही ज्ञात रहने वाले साध्य, और जिस साध्य की सिद्धि की जाती है, उसमें सजातीयता होने पर जो अनुमान किया जाता है, वह दृष्ट अनुमान है। जैसे पहले किसी नगरस्थित गाय में सास्ना को देखनेके बाद अन्यत्र वन आदि मेंसास्नावान् प्राणी को देखा तो अनुमान किया कि वह गो है। जो वस्तु पहले लिंग के साथ देखी जाती है, वह साध्य कहलाती है। यहाँ प्रसिद्ध(ज्ञात) गो और साध्य गो में जाति का भेद नहीं है। अत: यह दृष्ट अनुमान है।

सामान्यतोदृष्ट अनुमान

प्रसिद्ध (ज्ञात) और साध्य में अत्यन्त जातिभेद होने पर भी यदि उनमें किसी सामान्य की अनुवृत्ति होती हो तो उस अनुवृत्ति से जो अनुमान किया जाता है, वह सामान्यतोदृष्ट कहलाता है। जैसे कृषक, व्यापारी, राजपुरुष आदि अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होकर अपने अभिप्रेत फल को प्राप्त करते हैं। इससे यह विदित होता है कि प्रवृत्ति, फलवती होती है और लिंगसामान्य (फलवत्त्व) का स्वाभाविक सम्बन्ध है। कोई वर्णाश्रमी व्यक्ति संध्यावन्दन प्रभृति किसी धर्मपरक कार्य में प्रवृत्त है तो उससे यह अनुमान लगाया जाता है कि इस प्रवृत्ति का स्वर्गप्राप्ति जैसा कोई फल है। क्योंकि प्रवृत्ति फलवती होती है। इस प्रकार

हेतुसामान्य और फलसामान्य की व्याप्ति के आधार पर जो अनुमान किया जाता है वह सामान्यतोदृष्ट कहलाता है।

मीमांसकादिप्रवर्तित अन्य प्रमाणों की अन्तर्भूतता

नैयायिकों ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण माने हैं। किन्तु वैशेषिकों ने शब्द और उपमान को पृथक्-पृथक् प्रमाण नहीं माना। उन्होंने उपमान को शब्द में तथा शब्द को अनुमान में अन्तर्भूत माना और इस प्रकार केवल प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण स्वीकृत किये। मीमांसकप्रवर्तित अनुपलब्धि, अर्थापत्ति तथा पौराणिकों आदि द्वारा प्रवर्तित सम्भव, एतिह्य जैसे प्रमाणों का तो न्याय के आचार्यों ने ही खण्डन कर दिया था। अतः उनके प्रमाणत्व के निरसन की कोई विशेष आवश्यकता वैशेषिकों को प्रतीत नहीं हुई। फिर भी श्रीधर ने न्यायकन्दली में इनका युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। अन्नंभट्ट ने तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से वैशेषिक नय का अनुगमन करते हुए भी ज्ञानमीमांसा में न्याय का अनुगमन किया और चार प्रमाण माने। किन्तु अन्नंभट्ट के वैशेषिक नय की प्रमाणसम्बन्धी इस मान्यता पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा कि प्रमाण दो ही हैं प्रत्यक्ष और अनुमान।

सार और समाहार

नैयायिकों के विपरीत प्रमाण को एक स्वतन्त्र पदार्थ न मानकर वैशेषिकों ने उसको बुद्धि नामक गुण के अन्तर्गत समाविष्ट किया। प्रशस्तपाद ने बुद्धि के दो भेद बताये - विद्या और अविद्या। विद्या के अंतर्गत प्रमाण और अविद्या (अप्रमा) के अन्तर्गत संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय तथा स्वप्न का परिगणन किया। न्यायसूत्र में परिगणित तर्क, संशय आदि का भी प्रायः अनुमान मे अन्तर्भाव करके वैशेषिकों ने उनका पृथक् विश्लेषण नहीं किया। अप्रस्द्धि, असत् और संदिग्ध इन तीन का ही हेत्वाभासों के रूप में परिगणन किया। इस प्रकार ज्ञानमीमांसासंबन्धी कतिपय अन्य संदर्भों में न्याय-वैशेषिक मतों में भिन्नता है, फिर भी ज्ञानमीमांसा के संदर्भ में उनका प्रमुख पार्थक्य प्रमाणों की संख्या पर ही निर्भर माना जाता है।

प्राचार्यचरः,

श्री दादू आचार्य संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर